* श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः *

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

श्रीमद्भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ।

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल वंचनकर ।

वर्ष ११ | गौराब्द ४७९, मास—वामन १, वार—प्रद्युम्न मंगलवार, ३२ ज्येष्ठ, सम्वत् २०२२, १५ जून, १९६५ | संख्या १

श्रीश्रीमन्महाप्रभोरष्टकम् ।

(श्रीस्वरूप-चरितामृतम्)

[श्रील विश्वनाथ-चक्रवर्ति ठाकुर-विरचितम्]

स्वरूप ! भवतो भवत्ययमिति स्मित-स्निग्धया गिरैव रघुनाथमुत्पुलकिगात्रमुल्लासयन् ।
रहस्युपदिशन्निज-प्रणय-गूढ़-मुद्रां स्वयं विराजतु चिराय मे हृदि स गौरचन्द्रः प्रभुः ॥१॥

स्वरूप ! मम हृद्व्रणं बत ! विवेद रूपः कथं लिलेख यदयं पठ त्वमपि तालपत्रेऽक्षरम् ।
इति प्रणय-वेल्लितं विदधदाशु रूपान्तरं विराजतु चिराय मे हृदि स गौरचन्द्रः प्रभुः ॥२॥

स्वरूप ! परकीय-सत्प्रवर वस्तु-नाशेच्छतां वधज्जन इह त्वया परिचितो नवेतीक्षयन् ।
सनातनमुदित्य वस्मितमुखं महाविस्मितं विराजतु चिराय मे हृदि स गौरचन्द्रः प्रभुः ॥३॥

स्वरूप ! हरिनाम यज्जगदघोषयं तेन किं न वाचयितुमप्यथाशकमिमं शिवानन्दजम् ।
इति स्वपद-लेहनैः शिशुमचीकरत् यं कविं विराजतु चिराय मे हृदि स गौरचन्द्रः प्रभुः ॥४॥

स्वरूप ! रसरीतिरम्बुजदृशां व्रजे भन्यतां घन-प्रणय-मानजा श्रुतियुगं ममोत्कंठते ।
रमा यदिह मानिनी तदपि लोकयेति ब्रुवन् विराजतु चिराय मे हृदि स गौरचन्द्रः प्रभुः ॥५॥

स्वरूप ! रस-मन्दिरं भवसि मन्मुदामास्पदं त्वमत्र पुरुषोत्तमे व्रजभुवीव मे वर्तसे ।
इति स्वपरिरम्भनैः पुलकिनं व्यधात् तञ्च यो विराजतु चिराय मे हृदि स गौरचन्द्रः प्रभुः ॥६॥
स्वरूप ! किमपीक्षितं क्व नु विभो ! निशि स्वप्नतः प्रभो ! कथय किन्तु तन्नवयुवा वराम्भोधरः ।
व्यधात् किमयमीक्ष्यते किमु न हीत्यगात् तां दशां विराजतु चिराय मे हृदि स गौरचन्द्रः प्रभुः ।७।
स्वरूप ! मम नेत्रयोः पुरत एव कृष्णो हसन्नपैति न करग्रहं वत ! ददाति हा ! किं सखे !
इति स्खलति धावति श्वसिति घूर्णते यः सदा विराजतु चिराय मे हृदि स गौरचन्द्रः प्रभुः ॥८॥
स्वरूप-चरितामृतं किल महाप्रभोरष्टकं, रहस्यतममद्भुतं पठति यः कृतो प्रत्यहम् ।
स्वरूप परिवारतां नयति तं शचीनन्दनो, घन-प्रणय-माधुरी स्वपदयोः समास्वादयन् ॥९॥

अनुवाद—

स्वरूप ! यह रघुनाथ तुम्हारे अधिकारमें (देख-रेखमें) रहे'—ऐसे सहास्य-मधुर वाणीसे जिन्होंने रघुनाथदासको आह्लादित और पुलकित-गात्र किया था और जिन्होंने स्वयं ही निर्जनमें रघुनाथदासको अपनी प्रणय-महिमाकी निगूढ़ प्रणालीकी शिक्षा दी थी, वे श्रीमहाप्रभु श्रीगौरचन्द्र मेरे हृदयमें सदा-सर्वदा विराजमान हों ॥१॥

'स्वरूप ! रूपने मेरी मनोव्यथाको कैसे जान लिया ? क्योंकि रूपने मेरे मनोगत भावको लिख रखा है, तुम भी (उसकेद्वारा) ताल-पत्र पर लिखे हुए इस श्लोकका पाठ तो करो'—इस प्रकार जो कभी-कभी प्रेम-प्रकाश करते हैं अथवा कभी-कभी आत्मगोपन करते हैं, वे महाप्रभु श्रीगौरचन्द्र मेरे हृदयमें सदा-सर्वदा विराजमान हों ॥२॥

'स्वरूप ! यहाँ पर परकीया नित्यसिद्ध सर्वोत्कृष्ट वस्तुको नष्ट करनेकी अभिलाषा रखनेवाला कोई व्यक्ति विद्यमान है, क्या तुमने उसे पहचान लिया है ?"—इस प्रकार जो महाविस्मित और आनन्दसे भरकर हास्ययुक्त और लज्जासे अवनत-मुखवाले श्रीसनातनको सब कुछ दिखलाते, वे महाप्रभु श्रीगौर-चन्द्र मेरे हृदयमें सदासर्वदा विराजमान हों ॥३॥

'स्वरूप ! मैंने समग्र जगत् वासियोंको हरिनाम-उच्चारण करवाया है, परन्तु इससे मुझे क्या फल मिला ? क्योंकि अन्तमें शिवानन्दके इस पुत्रको हरिनाम उच्चारण न करवा सका,' ऐसा कहकर जिन्होंने अपने चरणकी अँगुलीको चूसाकर उस शिशुको कविश्रेष्ठ बना दिया था, वे महाप्रभु श्रीगौर-चन्द्र मेरे हृदयमें सदा-सर्वदा विराजमान हों ॥४॥

'स्वरूप ! व्रजकी कमल-नयनी—गोपियोंकी गाढ़-प्रणय-मान-जनित रस-परिपाटीका वर्णन करो, मेरे कर्णयुगल उसे श्रवण करनेके लिये उत्कंठित हो रहे हैं। देखो, इसी प्रणय-मर्यादाको प्राप्त न करनेके कारण लक्ष्मीजी मानिनी बन गयी हैं;'—इस प्रकार स्वरूप गोस्वामीके समीप अपने मनकी बात उघाड़ कर कहते हैं, वे महाप्रभु श्रीगौरचन्द्र मेरे हृदयमें सदा-सर्वदा विराजमान हों ॥५॥

'स्वरूप ! तुम मेरे प्रिय प्रात्र और रसके मन्दिर-स्वरूप हो। पुरुषोत्तम क्षेत्रमें तुम्हारे रहनेसे यह

पुरुषोत्तम क्षेत्र भी मुझे वृन्दावन प्रतीत हो रहा है, —ऐसा कह कर अत्यन्त आग्रहपूर्वक स्वरूपका कंठालिंगन कर उन्हें जिन्होंने पुलकित किया था, वे महाप्रभु श्रीगौरचन्द्र मेरे हृदयमें सदा-सर्वदा विराजमान हों ॥६॥

'स्वरूप ! मैंने क्या देखा ? स्वरूप बोले—प्रभो ! आपने कब देखा ? प्रभुने कहा—रातमें स्वप्नके समय। स्वरूप बोले—प्रभो ! वह कैसा था ? प्रभुने कहा—नवीन-मेघके सदृश कान्तिसे युक्त तरुण युवक। स्वरूपने पूछा—वह क्या कर रहा था ? क्या पुनः उसका दर्शन हो सकता है ? प्रभुने कहा—नहीं, अब उसका दर्शन नहीं मिल सकता।'—ऐसा कह कर जो शोकाभिभूत होकर अपूर्व दशाको प्राप्त हो जाते हैं, वे श्रीगौरचन्द्र प्रभु मेरे हृदयमें सदैव विराजमान रहें ॥७॥

हे स्वरूप ! कृष्ण मेरी आँखोंके सामने हँस कर भाग गये, पकड़े नहीं जा सके। हाय ! हाय सखे ! क्या उपाय करूँ ?—ऐसा कह कर जो सर्वदा पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, इधर-उधर भागते हैं, दीर्घ-निश्वास छोड़ते हैं और कभी चक्कर खाते हैं, वे महाप्रभु श्रीगौरचन्द्र मेरे हृदयमें सदैव निवास करें ॥८॥

जो इस अद्भुत रहस्यतम स्वरूप-चरितामृत नामक श्रीमन्महाप्रभुके अष्टकका पाठ करेंगे, श्रीशचीनन्दन महाप्रभु उनको गाढ़े प्रेमकी माधुरीका आस्वादन करा कर स्वरूपके परिकरके रूपमें ग्रहण करेंगे ॥९॥

———

परमाराध्यतम श्रीश्रीलगुरुदेवकी परम पुनीत आविर्भाव-तिथि-पूजाके उपलक्ष्यमें एक क्षुद्रतम दासका

कातर निवेदन

हृदय की थालिका में दो भाव प्रसून सजाकर।
लाया हैं दास चरणमें कृपा करो अपनाकर ॥
सेवाके मैं योग्य नहीं गुणहीन दया का भिक्षुक।
दे दो पग तल धूलि जिसे पा जाने का हूँ इच्छुक ॥
साधन से अति दूर, विषय भोग अनुरागी।
मानव जन्म अमोलक खोता को मुझसा हतभागी ॥
कृष्ण प्रेम और सेवा का गुरुवर दे दो दान।
सभी स्वार्थी मिलते जगमें तुमसा कौन महान ॥
दबा जा रहा पाप भार से मुझे बचालो हे स्वामी।
भगवत सेवामें लग जाऊँ छूटे विषय गुलामी ॥
मुझे चरणका दास बनालो गह लो मेरा हाथ।
जन्म-जन्म मैं सेवा पाऊँ रहे चरण में माथ ॥

—सत्यपाल ब्रह्मचारी, एम. ए. उत्तरार्द्ध

आमिष और निरामिष

जिनवाणी नामक एक सामयिक अवैदिक पत्रिका में यह संवाद प्रकाशित हुआ है कि निरामिष भोजी वैष्णव पण्डित श्रीयुक्तरसिकमोहन विद्याभूषण महोदय जिनवाणीके सम्पादकके साथ श्रावणके प्रारम्भमें ही बङ्गाल और आसामके विभिन्न स्थानों में 'अहिंसा' प्रचारके लिए बहिर्गत होंगे।

इससे पूर्व उक्त पत्रिकामें "निरामिष भोजन-प्रचारके लिये वेतन-ग्राही प्रचारककी आवश्यकता" का विज्ञापन भी प्रकाशित हुआ था। इस बार वह विज्ञापन पत्रिका-स्तंभमें क्यों नहीं प्रकाशित हुआ है, हमें यह पता नहीं है।

परन्तु हम पूर्वाचार्यों एवं श्रेष्ठ प्रचारकोंके आचरण एवं निर्देशसे यह भलीभाँति जानते हैं कि कोई भी वेतन-भोगी व्यक्ति कभी भी प्रचारक शब्द वाच्य नहीं हो सकता। जिनवाणीके सम्बन्ध में हमें विशेष कोई आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह पत्रिका सनातन वैदिक धर्मसे बहिर्भूत है। परन्तु इसके पत्रस्तंभमें विद्याभूषण महाशयके नामके पूर्व जो निरामिषभोजी वैष्णव पण्डित विशेषण दिया गया है, उसमें शुद्ध वैष्णव-विचारकी दृष्टिसे विशेष आपत्ति है।

सनातन वैदिक धर्मके सम्बन्धमें अनभिज्ञ जिनवाणीका संपादक वैसे विशेषणके प्रयोगके लिये विशेष दोषी नहीं है—यह बात ठीक है; परन्तु पण्डित प्रवर श्रीयुक्त विद्याभूषण महाशयका ऐसा आचरण वैष्णवोचित है या नहीं, यह विवेचनाका विषय है।

क्या विद्याभूषण महोदय केवल संस्कृत व्याकरण और साहित्य शास्त्रकी पारदर्शिताके बल पर ही गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रील जीव गोस्वामी पादके षट्सन्दर्भकी अनुव्याख्या—सर्वसम्वादिनीका अनुवाद करनेमें प्रवृत्त हुए थे? यदि विद्याभूषण महोदयको श्रीजीव पादके सत् सिद्धान्तोंमें बिन्दुमात्र भी श्रद्धा होती अथवा उनके सत् सिद्धान्तोंको लेशमात्र भी अपने हृदयमें धारण कर पाते तो वे इस प्रकार आत्महिंसासे भरे हुए प्रचार कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते।

यदि वे षट्सन्दर्भ-ग्रन्थकी आलोचना किये होते तो वे यह अवश्य ही जानते होते कि उसमें आदि 'जिन' या 'तीर्थङ्कर' ऋषभदेवको पाषंड-धर्मका प्रचारक बतलाया गया है और इस धर्ममें अहिंसा, वैराग्य, तपस्या, तितिक्षा और संयम आदि जितने भी गुणोंके आचरणका उल्लेख क्यों न हो, श्रीमद्भागवतके 'हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः' अर्थात् जो भगवद्भक्त नहीं हैं, उन मनोधर्मी व्यक्तियोंमें महत् गुणोंकी सम्भावना कहाँ है? इस विचारसे वे उनके संगको दुःसङ्ग जानकर सर्वतोभावसे उनका परित्याग किये होते।

वे तो वैष्णव पण्डित (?) हैं और वैष्णव ग्रन्थोंके लेखक और संकलन कर्त्ता भी हैं। तब क्या

उन्होंने कात्यायन संहिताके इस प्रसिद्ध वचनका कभी भी पाठ नहीं किया है ?

वरं हुतवह ज्वाला पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ।
न सौरिचिन्ताविमुख जानसम्वास वंशसम् ॥

अर्थात् यदि किसीको कभी पिंजड़ेमें बंद होकर आगमें जल कर मरना भी पड़े तो वह अच्छा है, तथापि कृष्ण-चिन्ता-बहिर्मुख व्यक्तियोंका संग करना कर्त्तव्य नहीं है ।

पण्डित महोदय इसके उत्तरमें ऐसा कह सकते हैं कि किसीका सङ्ग करनेके लिये इस प्रचार कार्यमें नहीं लग रहे है, बल्कि केवल मात्र अहिंसा धर्मका प्रचार करनेके लिये ही इसमें प्रवृत्त हो रहे हैं, क्योंकि वैष्णव धर्ममें भी अहिंसा-प्रचारकी बात है ।

इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवत आदि वैष्णव शास्त्र यह कहेंगे कि वैष्णवगण आरोहपन्थी नहीं, बल्कि अवरोह-पन्थी हैं । वे अक्षज ज्ञानोत्थ मनोधर्मके द्वारा परिचालित होकर अहिंसाका प्रचार नहीं करते । वैसे अहिंसा-धर्मके प्रचारका मूल्य एक फूटी कौड़ी भी नहीं है । उसके द्वारा तो आत्महिंसा-धर्म का ही प्रचार होता है । जहाँ नित्य भगवद्भक्ति और नित्य भगवान्की शरणागति स्वीकृत नहीं, वह मत निश्चय ही पाषंड मत है । वैष्णव शास्त्रोंका कहना है—

ज्ञान वैराग्यादि भक्तिर कभु नहे अङ्ग ।
अहिंसा यम नियमादि बुले कृष्णभक्त सङ्ग ॥
(चै० च० म० २२)

अर्थात् कृष्णभक्त निसर्गतः हिंसारहित और संयतचित्तके होते हैं । उनको किसी कृत्रिम उपायसे इन सद्गुणोंको कहीं बाहरसे उपार्जन नहीं करना पड़ता । पहले अहिंसाका आचरण करते-करते पीछे भक्त हो जाऊँगा—ऐसी चेष्टा आरोहवादी नास्तिक ही करते हैं । शुद्धभक्ति प्रचारमें बाधा देना या सङ्कोच करना जीव हिंसा है तथा पाषण्ड मतका प्रचार करना अथवा उसमें सहायता करना उससे भी अधिक जीव हिंसाका कार्य है । क्या केवल निरामिष आहार करनेसे ही अहिंसा धर्मका पालन करना हो जायगा ? शास्त्र कहते हैं—

'अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुख-दुखसमन्विता ।'

वृक्ष, तृण, लता, गुल्म और औषधिके वृक्ष आदि सभी चेतनता युक्त जीव हैं । अतएव जो इन सबको ग्रहण करके अपनेको निरामिषभोजी होनेका अहङ्कार करते हैं, वे भी जीव हिंसक हैं ।

वैष्णवगण निरामिष या आमिष भोजी नहीं हैं । अपनी रसनाकी तृप्तिके लिये अपने शरीरकी पुष्टिके लिये जो कुछ भी ग्रहण किया जायगा, उससे जीवहिंसा होगी ही । इस प्रकार प्रति क्षण न जाने कितने असंख्य जीवोंकी हत्या हो रही है । संसारमें ऐसा कौन व्यक्ति है जो यह कह सके कि मैं एक भी जीवहिंसा न करूँगा ? प्रति निःश्वासमें, प्रति पद-विक्षेपमें असंख्य जीव नष्ट हो रहे हैं ।

वैष्णवोंका कथन यह है कि इस प्रकारकी हिंसा या अहिंसाको लेकर व्यस्त रहना समयकी बरबादी मात्र है । जीवमात्र भगवानके नित्यदास हैं । इसलिये सदा-सर्वदा स्वयं भगवानकी सेवामें नियुक्त रह कर दूसरोंको भी प्रभुकी सेवामें नियुक्त करनेकी चेष्टा करना ही कर्त्तव्य है ।

सात्वत शास्त्रोंद्वारा अनुमोदित भगवानको निवेदित प्रसाद ग्रहणकर भगवानकी सेवा करनेके उद्देश्य से जीवन धारण करना आवश्यक है। मांस मछली, अण्डे आदि अमेध्य वस्तुएँ भगवानको निवेदन करने योग्य नहीं हैं। ये तामसिक और असुर स्वभावके लोगोंके खाद्य हैं। निरामिष या साक-सब्जियोंको भी यदि भगवत प्रसादके रूपमें ग्रहण न कर केवल दाल-भात या तरकारी समझ कर जिह्वा लालसा या शरीर पुष्टिके लिये खाया जाय तो इससे भी जीव हिंसा हो पड़ती है।

यदि विद्याभूषण महाशयजी इस वैष्णव सत्-सिद्धान्तको जानते होते तो, वे इस प्रकार अवरोह-मार्गको छोड़कर आरोह-मार्गका अवलम्बन करके निरामिष भोजनके प्रचार कार्यमें अग्रसर नहीं होते। मनो-धर्मियोंके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। वे बीचमें स्वरचित गौर समाजको छोड़ कर परिचर्चा करनेवाले "प्रेमपुष्प" नामक धर्म सम्बन्धीय पत्रिकाका सम्पादन कार्य भी करने लगे थे। पुनः किसी कारणवश छोड़ दिया; परन्तु उसे छोड़ने पर भी अपनी दाढ़ी-मूछें फिर धारण न कर सकें।

मनोधर्मी जगत् प्राकृत पाण्डित्य-प्रतिभा, कलिनता और धन ऐश्वर्यके प्रति मुग्ध होता है और गतानुगतिक न्यायानुसार तिलको भी ताड़ बना डालता है। इस प्रकार वह स्वयं वंचित होता है और दूसरोंको भी वंचित करवाता है। जगत्के विचारसे सिकन्दर महान है, नेपोलियन महान हैं, जैमिनी और पराशर और भी महान हैं, परन्तु भागवतकी दृष्टिसे उनका मूल्य अतिशय क्षुद्र है, कुछ भी नहीं है। शुद्ध वैष्णव संसारमें बिरल हैं। अन्याभिलाषी मनोधर्मी वैष्णवनामधारी लोगोंसे जगत् भरा पड़ा है। कोमलश्रद्ध और बहिर्मुख-जीव उनके प्रति आकर्षित होकर दुधके भ्रमसे चुनेका पानी पीकर वंचित हो रहे हैं।

—जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

कहा हम कीनो नरतन पाइ

कहा हम कीनो नरतन पाई।
हरि परितोषण एको कबहूँ बनि आयो न उपाइ॥
हरि हरिजन अराधि न जाने कृपण वित्त चित्त लाइ।
वृथा विषाद उदर की चिंता जनमहि गयो बिताइ॥
सिंह त्वचाको मह्यो महापशु खेत सबनको खाइ।
ऐसे ही धरि भेष भक्तको घर-घर फिर्यो पुजाइ॥
जैसे चोर भोर के आये इत चितवत् बितताइ।
ऐसे ही गति भई गदाधर प्रभु कि न करहु सहाइ॥

—श्रीगदाधर भट्ट

प्रश्नोत्तर

श्रीकृष्णतत्त्व

(१) कृष्णस्वरूप विमल प्रेमके लिये सर्वापेक्षा अधिक उपयोगी क्यों है ?

"परमतत्त्वके जितने भी प्रकार भाव जगतमें दिखलाई पड़ते हैं, उन समस्त भावोंकी अपेक्षा कृष्ण-स्वरूप-भाव ही विमल प्रेमका एकमात्र अधिकतम उपयोगी भाव है। मुसलिम शास्त्रोंमें जो "अल्ला" का भाव स्थापित हुआ है, उसमें विमल प्रेम नियोजित नहीं हो सकता, अतिप्रिय बन्धु पैगम्बर भी उसके स्वरूपका साक्षात नहीं कर सके; क्योंकि उपास्यतत्त्व सख्यगत होने पर भी ऐश्वर्यवशतः उपासक से दूर रहता है। ईसाई धर्म जो 'गॉड' की भावना करता है वह भी अत्यन्त दूरगत तत्त्व है। ब्रह्मकी तो बात ही क्या, नारायण भी जीवके सहज प्रेमके विषय नहीं हैं; कृष्ण ही एकमात्र विमल प्रेमके साक्षात विषय स्वरूपमें चिन्मय ब्रजधाममें नित्य विराजमान रहते हैं।"

—चै. शि. १।१

(२) क्या कृष्णके, अतिरिक्त विशुद्ध प्रेमके विषय और कोई नहीं हैं ?

"यद्यपि भाषाभेदसे कृष्ण, वृन्दावन, गोप, गोपी, गोधन, यमुना, कदम्ब इत्यादि शब्द कहीं पर दिखलाई न भी पड़े तथापि विशुद्ध प्रेम साधकोंको उस लक्षणमें लक्षित नाम धाम, उपकरण, रूप और लीला आदि सब प्रकारान्तरमें और वाक्यान्तरमें अवश्य स्वीकार करना होगा। अतएव कृष्णके सिवाय विशुद्ध प्रेमका कोई दूसरा विषय नहीं है अर्थात कृष्ण ही एकमात्र प्रेमके विषय हैं।

—चै. शि. १।१

(३) विष्णुतत्त्वका चरम प्रकाश क्या है ?

"श्रीकृष्ण ही विष्णुतत्त्वके चरम प्रकाश हैं सत्त्वगुणकी उपासना द्वारा जीव निर्गुण होने पर कृष्णतत्त्वकी सेवा प्राप्त करता है।"

—'तत्तत्कर्म प्रवर्त्तन', स० तो० ११।६

(४) ब्रह्म परमात्मा और भगवान क्या पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं ?

"ब्रह्म परमात्मा और भगवान् वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं, जो जिस रूपको और जितनी दूर तक देखते हैं, वे उसीको देखकर सर्वोत्तम बतलाते हैं।"

चै० शि० १।३

(५) ब्रह्म और परमात्मासे श्रीकृष्णतत्त्वका वैशिष्ट्य क्या है ?

"श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द घनविग्रह हैं, परमात्मा और ब्रह्मके आश्रय हैं।"

श्रीम० शि०, ३ य०

(६) ब्रह्म और भगवान्के स्वरूप और उनकी उपासनागत फलका तारतम्य क्या है ?

"ब्रह्म और परब्रह्म भगवान् पृथक्-पृथक तत्त्व नहीं हैं। ब्रह्म उसी भगवान्‌की महाविभूति हैं, ब्रह्म व्यतिरेक गुण हैं अर्थात् अप्रकटित-शक्ति-सम्पन्नता-भाव मात्र हैं। जो प्रकटित-अविचिन्त्य-अद्भुत विचित्र शक्तिविशिष्ट है, वही वस्तु भगवान् है। इसीलिए सगुण-निर्गुणादि विरुद्ध गुणसमूह उनमें सामञ्जस्य रूपमें प्रविष्ट हैं। इसलिए ब्रह्ममें केवल शुष्क ज्ञान संयोग द्वारा जीवका मोक्षमात्र तुच्छ-सुख लाभ होता है और भगवानमें ही निर्मल भक्ति रसास्वादन रूप भूमा सुखकी प्राप्ति सम्भव है।"

—बृ० भा० तात्पर्यानुवाद

(८) श्रीकृष्णमें क्या देह-देही भेद है?

"श्रीकृष्णका स्वरूप सच्चिदानन्द होता है। उस सच्चिदानन्द विग्रहमें जड़ीय शरीरधारी जीवोंकी भाँति देह-देही अथवा धर्म-धर्मी भेद नहीं होता। अद्वयज्ञान स्वरूपमें जो देह है, वही देही है; जो धर्म है, वही धर्मी है। कृष्ण-स्वरूप मध्यमाकारमें एक स्थान पर स्थित रहने पर भी सर्वत्र पूर्ण रूपमें-अवस्थित हैं।"

—श्रीम० शि०, ३ य प०

(९) परब्रह्मको निर्विशेष कहना अयुक्ति-सङ्गत क्यों है?

"जो कुछ है, उसका एक विशेष धर्म है, उसके द्वारा वह वस्तु अन्य वस्तुसे स्वतः भिन्न हो सकती है, जब विशेष नहीं है, तब वस्तुका अस्तित्व भी नहीं है। परब्रह्म निर्विशेष होने पर सृष्टवस्तुसे अथवा प्रपञ्चसे किस प्रकार पृथक हो सकता है? यदि सृष्ट-वस्तुसे उसको पृथक नहीं कह सकते, तो सृष्टिकर्ता और जगत एक हो जायगा। आशा, भरोसा, भय, तर्क और सर्व प्रकारके ज्ञान अस्तित्वरहित हो जाएँगे।

—प्रे० प्र० ६ म प्र०

(१०) परमेश्वरका प्रतिद्वन्दी तत्त्व क्यों नहीं सम्भव है?

"परमेश्वर अद्वितीय पुरुष हैं उनके समान या उनसे अधिक कोई नहीं हैं, सभी उनके अधीन हैं। संसारमें ऐसी कोई भी चीज नहीं है, जो उनके अन्दर हिंसा उत्पन्न कर सके, उनके प्रति भक्ति अर्जन करने के लिए जो कुछ कार्य किया जाता है, वे हृदय-निष्ठा को देखकर उसका फल प्रदान करते हैं।

—प्रे० प्र० ५ म प्र०

(११) ब्रह्मको भगवत् तत्त्वकी अङ्गकान्ति क्यों कहा जाता है?

"भगवत् स्वरूप ही पूर्ण स्वरूप है; क्योंकि उनका वही विशेष तत्त्व है; ब्रह्म और परमात्मा उसी विशेषके दो विशेषण हैं। जब सृष्टि नहीं हुई थी, तब एकमात्र भगवानके अतिरिक्त और कुछ नहीं था; तब ब्रह्म भी नहीं थे। जब जगतकी सृष्टि हुई तो "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्"—इसी भावमें भगवान्‌का एक विश्व सम्बन्धी आविर्भाव ज्ञात हुआ जाता है। ब्रह्मके सम्बन्धमें दो भाव हैं। प्रथम—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"; द्वितीय—समस्त सृष्ट अथवा सगुण वस्तु की एक प्रकारकी व्यतिरेक चिता। दोनों भाव ही विश्व सम्बन्धी भाव हैं। अतएव ब्रह्म भगवान् की ज्योति स्वरूप हैं, जो विश्व सम्बन्धमें परिव्याप्त

हैं। परब्रह्मको भगवान्‌की अंगकांति कहना यथार्थ ही है।

—'वस्तु निर्देश', म. तो. २६

(१२) ब्रह्म क्या वस्तु है? वह पूर्ण सच्चिदानन्द-मय विग्रह श्रीकृष्णका किस प्रकार प्रकाश है?

"श्रीकृष्णकी यशोराशि ज्योतिरूपमें सर्वत्र विकीर्ण होकर 'ब्रह्म' नाम से अभिहित होती है।

—श्रीम० शि० ३य प०

(१३) श्रीकृष्ण-तत्त्व ब्रह्मके आश्रय हैं; इस सम्बन्धमें गीताका प्रमाण क्या है?

"निर्गुण - सविशेष तत्त्व - स्वरूप श्रीकृष्ण ही ज्ञानियोंकी चरमगति ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अथवा आश्रय हैं। अमृतत्व, अव्ययत्व, नित्यत्व, नित्य धर्म-स्वरूप प्रेम एवं ऐकान्तिक सुख-स्वरूप व्रजरस—ये सभी निर्गुण-सविशेष - तत्त्वरूप कृष्ण स्वरूपका आश्रय करके रहते हैं।

—रसिकरंजन भाष्य १४।२६

(१४) ब्रह्म और परब्रह्ममें पार्थक्य क्या है?

"परशक्ति विशिष्ट ब्रह्म ही परब्रह्म हैं। निःशक्तिक निर्विशेष-ब्रह्म परब्रह्मका ही एकदेश मात्र है।"

—त० वि०, १म अनु०, ३२

(१५) परमात्माके दो प्रकाश कौन-कौन हैं?

"परमात्माके दो प्रकाश हैं—व्यष्टि-प्रकाश और समष्टि-प्रकाश। समष्टि प्रकाश द्वारा वे विराट—ब्रह्माण्ड-विग्रह हैं। व्यष्टि-प्रकाश द्वारा वे जीवके सहचर हैं और उनके हृदयमें विराजमान अंगुष्ठ परिमाणवाले पुरुष विशेष हैं।

—चै० शि० ५।३

(१६) ब्रह्म-दर्शन, परमात्म-दर्शन और भगवद्-दर्शनमें पार्थक्य क्या है?

"ब्रह्म-दर्शन और परमात्म-दर्शन—सोपाधिक हैं अर्थात् मायिक उपाधिके विपरीत भावमें ब्रह्म-दर्शन होता है एवं मायिक उपाधिके अन्वयभावसे परमात्मा का दर्शन होता है। किन्तु निरूपाधिक चित् चक्षु द्वारा वस्तु दर्शन करने पर एकमात्र चिन्मय भगवत् स्वरूप ही लक्षित होते हैं।

—श्री भ० शि० ४०६ प०

(१७) ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इनका अलग-अलग स्वरूप क्या है?

"निःशक्ति निर्विशेष भगवद् भाव ही ब्रह्म है एवं शक्तिमान सविशेष ब्रह्म ही भगवान् हैं। अतएव भगवान् ही स्वरूप-तत्त्व हैं, ब्रह्म उनके स्वरूपका केवल निर्विशेष आविर्भावरूप ज्योति अर्थात् उनका अंग - ज्योति हैं एवं परमात्मा उनके वह अंश हैं जो जगतके प्रत्येक पदार्थोंमें अंगुष्ठ - परिमाणमें साक्षीके रूपमें प्रविष्ट हैं।

—श्रीम० शि०, ४ र्थ प०

(१८) अद्वय तत्त्व कृष्णमें किस समय निर्विशेष ब्रह्मका विचार उपस्थित होता है?

"अनन्त वैभव युक्त कृष्ण एक अद्वय तत्त्व हैं। ज्ञान मार्गमें कृष्णसे उनकी इच्छा और शक्तिको पृथक् करने पर वे अद्वय तत्त्व ही निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें लक्षित होते हैं।"

—'नाम माहात्म्य सूचना', ह० चि०

(१९) कृष्णलीलाका स्वरूप क्या है?

"कृष्ण से पुरुष एक, नित्य वृन्दावने।
जीवगण नारीवृन्द, रमे कृष्णसने॥

सेइत आनन्दलीला जार नाइ अन्त ।
अतएव कृष्णलीला अखण्ड अनन्त ॥"

—'सम्बन्ध-विज्ञान लक्षण उपलब्धि' १, क०

(२०) कृष्णके स्वकीय और पारकीय रसका विचार किस प्रकार है ?

"कृष्णका आत्मारामता-धर्म नित्य होने पर भी उनका लीलारामता-धर्म भी उसी प्रकारसे नित्य है। कृष्णमें समस्त विरुद्ध-धर्म एक साथ प्रकाशित हैं, यह उनका स्वाभाविक धर्म है । कृष्ण तत्त्वके एक केन्द्रमें आत्मारामता, उसके विपरीत केन्द्रमें लीला-रामताकी पराकाष्ठा रूप पारकीयता विद्यमान है।

(२१) आश्रय और विषय तत्त्वकी सीमा कौन कौन तत्त्व हैं ?

"श्रीमतीराधिका अनुरागरूपमें आश्रय तत्त्व की अन्तिम सीमा हैं और श्रीकृष्ण शृङ्गार रूपमें विषय तत्त्वकी चरम सीमा हैं ।

—च० कि० २४ खंड ७।७

(२२) कृष्णकी प्रकटाप्रकट लीलाका स्वरूप क्या है ?

"कृष्णलीला प्रकट और अप्रकट भेद से दो प्रकार की है । साधारण मानवकी नयनगोचर जो वृन्दावन लीला है, वही प्रकट कृष्णलीला है एवं जो चर्म चक्षु द्वारा लक्षित नहीं होती, वह कृष्ण लीला ही अप्रकट लीला है । गोलोकमें अप्रकट-लीला सर्वदा प्रकट है एवं गोकुलमें अप्रकट-लीला कृष्णकी इच्छा होने मात्रसे प्रापंचिक-चक्षुओंसे देखी जाती है।

(२३) 'मथुरा', 'वसुदेव', 'देवकी', 'कंस', 'कंस-कारागार'—ये सब तत्त्वतः क्या हैं ?

महापुण्य भूमि भारतवर्षके ब्रह्मज्ञान-विभाग रूप मथुरामें विशुद्ध सत्त्वस्वरूप वसुदेवने जन्म ग्रहण किया । सात्वतोंके वंशसम्भूत वसुदेवने मस्तिष्ककी प्रतिमूर्ति कंसकी मनोमयी भगिनी देवकीसे विवाह किया। भोज कुलांगार कंस इस दम्पति से भगवद्भावकी उत्पत्तिकी आशंका करके स्मृतिरूप कारागारमें उनको बन्द कर लिया ।

—कृ० स० ४।१

(क्रमशः)

—जगद्गुरु श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

अनुवादक—ओमप्रकाश दासाधिकारी 'साहित्यरत्न' बी० ए०

सन्दर्भ-सार

(५)

हमने पूर्व-प्रबन्धमें श्रीमद्भागवतके श्रेष्ठत्व, वेदमयत्व और श्रीकृष्ण-प्रतिनिधित्वका प्रतिपादन किया है। अतः परममंगलमय भगवान् और उनकी प्राप्तिके साधनके निर्णयार्थ श्रीमद्भागवतका प्रमाण निर्विरोध रूपमें ग्रहण करना उचित है।

श्रीसूत गोस्वामीने श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें भागवत-वक्ताको प्रणाम किया है। उस प्रणाम-मंत्र में उन्होंने यह कहा है कि—जिनका चित्त ब्रह्मानन्दसे परितृप्त है और इसलिये विषय-भोगोंके प्रति जिनकी तनिक भी आसक्ति नहीं है और जिन्होंने श्रीकृष्णकी सुमधुर लीला-कथाओंके प्रति आकृष्ट होकर ब्रह्मनिष्ठ चित्तका धैर्य खोकर करुणावश परमार्थ-प्रकाशक श्रीमद्भागवतका प्रचार किया है, उन निखिल पापराशि नाशक व्यासपुत्र श्रीशुकदेव गोस्वामीको मेरा नमस्कार है। इसके द्वारा यह पता चलता है कि शुकदेव गोस्वामीको ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा श्रीमद्भागवतमें बहुत अधिक आनन्द मिला था।

श्रीव्यास-नन्दन शुकदेव गोस्वामी संसारसे विरक्त और ब्रह्मानन्दमें सर्वदा डूबे रहनेवाले आत्माराम योगी थे। वे पैदा होते ही माता-पिता और घरको छोड़कर वनका रास्ता लिये। व्यासदेवने कुछ दूर तक 'हा पुत्र' 'हा पुत्र' इस प्रकार पुकारते-पुकारते उनका पीछा किया, परन्तु लौटा नहीं सके। इधर व्यासदेव पारमहंसी संहिता श्रीमद्भागवतको प्रकटित कर उसे जगत् कल्याणके लिये उपयुक्त पात्र श्रीशुकदेवको पढ़ाना चाहते थे। व्यासदेवने शुकदेवको वनसे अपने पास लौटानेके लिये एक उपाय सोचा। उन्होंने जंगलमें जाते हुए पक्षियोंको पकड़ने वाले कुछ बहेलियोंसे कहा—'तुम्हें पक्षियोंको पकड़ने में बड़ा कष्ट होता है। इसलिए मैं तुम्हें एक मंत्र बतला रहा हूँ। तुम लोग इस मंत्रका जंगलमें जाकर जोर-जोरसे पाठ करना। ऐसा करनेसे अनायास ही बहुतसे शुक पक्षी तुम्हारे जालमें फँस जायेंगे।' ऐसा कह कर श्रीव्यासदेवने उन्हें श्रीमद्भागवतका श्रीकृष्णके रूप सम्बन्धी एक सरस एवं मधुर श्लोक उनको कंठस्थ करवा दिया। बहेलिये बड़े प्रसन्न हुए। वे अधिक पक्षियोंकी प्राप्तिकी आशासे जंगलमें पहुँच कर जोर-जोरसे पाठ करने लगे। भगवत् इच्छासे शुकदेवके कानोंमें उस श्लोककी ध्वनि सुनाई पड़ी। वे बड़े आकर्षित हुए और उन बहेलियोंसे पूछा कि वह मंत्र उन्होंने कहाँ और किससे प्राप्त किया है? उन्होंने उत्तरमें श्रीवेदव्यासका नाम बतलाया। ऐसा सुनकर शुकदेवजी उसी क्षण अपने पिता श्रीवेदव्यासके समीप पहुँचे और उनसे श्रीमद्भागवतका अध्ययन किये। श्रीभगवानका तत्त्व सम्यक रूपमें अवगत होकर वे ब्रह्मनिष्ठाको त्याग कर भागवत-चर्चामें ही अधिक रूपमें आनन्दका आस्वादन करने लगे। अब वे आत्म-सुख साधनकी अपेक्षा अनेकों जीवोंके कल्याण-साधनको श्रेष्ठ समझने लगे।

श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यासने एकान्त भक्तियोग से निर्मल हुए अन्तःकरणमें समाधिस्थ होकर श्रीकृष्णकी अपाश्रिता बहिरङ्गा-शक्ति माया और मायाद्वारा मोहित हुए जीवोंको देखा था। उन्होंने यह भी देखा था कि जीवसमूह माया द्वारा मोहित होकर देहमें आत्मबुद्धि करके अनर्थको ही अर्थ मानते हैं तथा सुख-दुःखका अनुभव करते हैं और भगवानकी भक्ति ही उनके इस अवस्थासे उद्धार पाने का एक मात्र उपाय है श्रीवेदव्यासजीने इन तत्त्वों की उपलब्धि करके अज्ञ जीवोंके कल्याणके लिये इस सात्वत संहिता श्रीमद्भागवतका प्रकाश किया। इस श्रीमद्भागवतका श्रवण करनेसे शोक-मोह-भय-नाशिनी कृष्णभक्तिका उदय होता है। तदनन्तर श्री-वेदव्यासने उसे अपने पुत्र शुकदेवको पढ़ाया, ऐसा सुनकर शौनकने सूतगोस्वामीसे जिज्ञासा की कि शुकदेवजी निवृत्तिमार्ग-निष्ठ योगी हैं तथा ब्रह्मानन्द में निष्ठायुक्त होनेके कारण ब्रह्मानन्दके अतिरिक्त दूसरे समस्त विषयोंमे निस्पृह हैं। अतएव आत्मा-राम होकर भी उन्होंने श्रीमद्भागवतका कैसे श्रवण किया? उनका यह प्रश्न सुनकर सूत गोस्वामी बोले—जिनकी देहाभिमानरूप ग्रन्थि खुल चुकी है और जो सर्वथा निरपेक्ष हो चुके हैं, वे आत्माराम योगी-गण भी विचित्र लीलापरायण भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रकी अहैतुकी भक्ति करने लग जाते हैं; सर्वजन मनोहारी श्रीकृष्णके गुण ही ऐसे हैं। उनके नाम-रूप-गुण-लीलाकी माधुरी ब्रह्मानन्दसे अनन्तगुणा अधिक श्रेष्ठ होनेके कारण ऐसा होना कोई विचित्र बात नहीं है। श्रीशुकदेवजी बहेलियोंके मुखसे श्रीमद्भागवतका केवल एक ही श्लोक सुनकर आकृष्ट हो गये थे। इसलिये उन्होंने सम्पूर्ण भागवतका श्रवण करनेके लिये आत्मारामत्वका भी परित्याग कर देना श्रेयस्कर समझा था।

जीवके मोहन-सम्बन्धमें मायाका कर्तृत्व है। भगवानकी इस विषयमें उदासीनता लक्षित होती है। श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्धमें पितामह ब्रह्माके वचनोंसे भी ऐसा जाना जाता है कि माया—भग-वानके सामने आनेमें लज्जा बोध करती है; अबोध जीव उसी माया द्वारा विमोहित होकर स्थूल-लिंग शरीरको 'मैं' और स्त्री-पुत्रादिको 'मेरा' समझता है। जीव भगवानके प्रिय हैं; उनका मायाद्वारा मोहित किये जानेका कार्य भगवानको रुचिकर नहीं होता, इसलिये माया भगवानके सामने आनेमें लज्जा का बोध करती हैं; फिर वे ऐसा कार्य क्यों करती हैं? इसका उत्तर यह है कि जीवोंका भगवानके प्रति विमुख होना मायासे सहा नहीं जाता; इसलिये त्रिताप आदि दुःख प्रदान कर उन्हें पुनः भगवत् चरणोंके प्रति उन्मुख करनेके लिये ही वे ऐसा कार्य करती हैं। भगवान इस विषयमें उदासीन रहते हैं।

यदि कोई आशंका करे कि माया निष्ठुर होकर जीवको संसार चक्रमें डालकर पीसती है, फिर भी भगवान उदासीन क्यों रहते हैं? इसका उत्तर यह है कि भगवान्ने अनादि कालसे प्रपञ्च-सृष्टि-कार्यमें नियुक्त कर्तव्य-परायणा मायाको जो अधिकार दे रखे हैं, उसमें वे बाधा देना उचित नहीं समझते। यदि वे स्वयं ही जीवोंका मोह नष्ट करते हैं, तो माया

के कार्यमें हस्तक्षेप करना होता है और इससे उसका सम्मान नष्ट होता है। इसलिये वे जानबूझ कर उदासीन रहते हैं। परन्तु मायासे छुटकारा प्राप्त कराने के लिये वे जीवको विविध प्रकारसे उपदेश करते हैं। जैसे, गीतामें वे स्वयं कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७।१४)

अर्थात् मेरी त्रिगुणमयी अलौकिक शक्ति सम्पन्ना माया अतीव दुस्तरा है। परन्तु दूसरोंके लिये दुस्तरा होने पर भी जो जीव मेरे शरणागत होते हैं, वे उसे सहज ही पार कर जाते हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य संविदो,
भवन्ति हृत् कर्ण रसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि,
श्रद्धा-रति भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
(भागवत ३।२५।२५)

भगवान्, श्रीव्यासदेवके रूपमें प्रकटित होकर आचार्यकी भाँति उपदेश देते हैं; इसके द्वारा यह अवगत हुआ जाता है कि भगवान् किस प्रकारसे जीवोंके मायिक भय को दूर कर उन्हें अपने श्रीचरण-कमलोंमें आकर्षण करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

यदि जीवोंको मोहित करनेका कार्य भगवानको रुचिकर नहीं है, तब वे मायाको जगत् सृष्टिके कार्य में नियुक्त क्यों करते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर है,—भगवान् विमुख जीवोंको उन्मुख करानेके लिये मायाको प्रपंच - सृष्टिके कार्यमें नियुक्त करते हैं। अर्थात् विमुख जीव प्रपंचमें मायिक त्रितापोंसे (आगद्वारा सोनेकी भाँति) शुद्ध होकर भगवदुन्मुख होकर पुनः भगवत प्रेमका आस्वादन करने योग्य बन जाँय—माया द्वारा प्रपंच सृष्टि करानेका यही उद्देश्य है। अपार करुणामय भगवान् अनादि बहिर्मुख जीवोंको मायाके जालसे उद्धार करनेके लिये कभी स्वयं अपने मुखसे और कभी अपने प्रियजनोंके द्वारा उपदेश प्रदान कर उन्हें अपने श्रीचरणकमलोंकी ओर आकृष्ट करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

इसके द्वारा यह प्रमाणित होता है कि ईश्वर नियन्ता हैं, जीव नियम्य है तथा ईश्वर और जीवमें स्वरूपगत कुछ विलक्षणता विद्यमान है।

अद्वैतवादियोंके मतानुसार—'एक अद्वितीय ब्रह्मके माया द्वारा आच्छादित होनेपर ईश्वर और जीव दो विभाग हुए हैं। उनमेंसे मायाकी विद्यावृति-द्वारा परिच्छिन्न-ब्रह्म ईश्वर हैं तथा मायाकी अविद्या वृति द्वारा परिच्छिन्न-ब्रह्म जीव है। उदाहरणके लिये, एक महाकाश नित्य वर्तमान है, परन्तु एक घट द्वारा उसका कुछ अंश आवृत होने पर वह आवृत अंश घटाकाश कहलाता है। इसका नाम परिच्छिन्नवाद है। पुनः जैसे, ज्योति-स्वरूप सूर्य भिन्न-भिन्न जलाशयोंमें प्रतिबिम्बित होकर भिन्न - भिन्न रूपमें दिखलायी पड़ता है; वैसे ही अज आत्मा भी विविध क्षेत्रोंमें विविधरूपोंमें प्रतीत होता है। जलमें दीखनेवाला सूर्य प्रतिबिम्ब जलके कम्पन आदि धर्मोंको ग्रहण करता है, इसलिये वह विकारी है; परन्तु आकाशस्थित सूर्यमें कम्पनादि संभव नहीं होनेके कारण अविकारी है। ईश्वर और जीवके

विषयमें भी वैसे ही समझना चाहिये । ईश्वर अविकारी है तथा जीव विकारी है ।'

परन्तु उपर्युक्त विचार युक्ति-विरुद्ध एवं शास्त्र प्रमाण-प्रतिकूल होनेके कारण अग्राह्य है । क्योंकि एक बृहदाकार प्रस्तर - खण्डके पृथक् - पृथक् खण्ड देखे जाते हैं, उससे उसकी बृहत् अवस्थाकी हानि होती है अर्थात् उस पत्थरसे जितने ही अधिक टुकड़े निकलेंगे, मूल उतना ही छोटा होता जायगा; परन्तु वास्तव वस्तुमें वैसी जड़ताका अभाव रहनेके कारण अच्छेद्य और अखण्ड ब्रह्म खण्डित नहीं किया जा सकता । फिर भी यदि युक्तिके लिये ऐसा स्वीकार भी कर लिया जाय तो जीव और ईश्वर अनादि न रह कर कालधर्मके सापेक्ष हो पड़ेंगे ।

पहली बात, व्यापक, निरवयव, निर्विशेष ब्रह्मका आच्छादान ही असम्भव है ।

दूसरी बात, अच्छिन्न उपाधियुक्त ब्रह्मका एक-एक प्रदेश ही ईश्वर और जीव है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उपाधियुक्त ब्रह्मके प्रदेश-विशेषमें भेद होनेसे क्षण-क्षणमें उपहितत्व और अनुपहितत्वके दोष आ पड़ते हैं । ब्रह्मका सम्पूर्ण अंश ही उपहित (आवृत) होकर जीव हुए हैं—ऐसा कहनेसे अनुपहित (अनावृत) ब्रह्मका अस्तित्व ही नहीं बच रहता । अतः यह श्रुतिविरुद्ध है । पुनः यदि यह कहो—इसके अधिष्ठान ब्रह्म नहीं हैं, बल्कि उपाधि ही उक्त जीव और ईश्वरके रूपमें विद्यमान है, तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि शुद्ध ब्रह्मका अधिष्ठान स्वीकार नहीं करनेसे मुक्त अवस्थामें भी जीव और ईश्वरका पृथक भाव रहेगा ही । इसके अतिरिक्त परिच्छिन्न या प्रतिबिम्बित अवस्था किसी आदि पदार्थकी ही सम्भव हो सकती है । निर्विकार ब्रह्मका परिच्छेद आदि स्वीकार करनेसे वह सविकारी हो पड़ता है । परन्तु यह भी श्रुति-विरुद्ध है । सर्वव्यापक चिन्मय वस्तुका प्रतिबिम्ब कदापि सम्भव नहीं है । सर्वव्यापी होनेके कारण जब जल-दर्पण आदि आधारोंमें भी उसकी सदा-सर्वदा बिम्बरूपमें स्थिति है, तब उन आधारोंमें फिर प्रतिबिम्बकी सम्भावना कहाँ रही ? प्रतिबिम्बके आधारमें बिम्ब स्वयं विद्यमान रहने पर उसमें प्रतिबिम्ब रहनेकी संभावना नहीं होती ।

प्रतिबिम्ब स्वीकार करने पर भी जीव और ईश्वरका विभाग संभव नहीं होता । जो वस्तु दृश्य नहीं है, उसका जल-दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब भी नहीं हो सकता है । जब हम जल आदिमें सूर्य-चन्द्र आदिका प्रतिबिम्ब देखते हैं, उस समय हम आँखोंको ऊपर उठाने पर आकाश स्थित सूर्य-चन्द्रको भी देख सकते हैं । परन्तु ब्रह्म वस्तु अदृश्य होनेके कारण उसे हमारी आँखें नहीं देख पातीं, आँखें केवल असद् वस्तुको ही देख सकती हैं, निराकार ब्रह्म (जैसा कि मायावादी मानते हैं) को वे कैसे देख सकती हैं ? लिंग देह भी अदृश्य है । अतएव लिंग देहके भीतर विराजमान ब्रह्मका दर्शन आँखोंके द्वारा संभव नहीं । आँखोंके अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियोंमें दर्शन करनेकी योग्यता नहीं है । रूप आदि धर्म-विशिष्ट परिच्छिन्न अवयवयुक्त चन्द्र-सूर्य आदिका दूरवर्ती नदियों और सरोवरोंमें प्रतिबिम्ब पड़ता है; परन्तु इसके विपरीत धर्मवाले ब्रह्मका प्रतिबिम्ब सर्व प्रकारसे असंभव है । आकाश अवयव शून्य है अर्थात् निराकार है । अतएव उसका प्रतिबिम्ब नहीं होता ।

आकाश स्थित ज्योतिष्क पदार्थ—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारोंका या बादलोंका ही प्रतिबिम्ब होता है। आकाशका प्रतिबिम्ब स्वीकृत होने पर वायु, दिशा और कालका भी प्रतिबिम्ब स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव निराकार निरुपाधि सर्वव्यापी ब्रह्मका परिच्छेद या प्रतिबिम्बवाद असंभव है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" मंत्रमें जीव और ब्रह्मके सम्बन्धमें ऐसा कहा गया है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों एक ही देहमें विराजमान हैं; परन्तु इनमेंसे जीव मायाबद्ध है तथा परमात्मा मायातीत हैं। अतएव परमात्मा जीवसे विलक्षण और स्वतन्त्र हैं। श्रीमध्वाचार्य पद्म-पुराणका श्लोक उद्धृत कर कहते हैं—

> चेतनस्तु द्विधा प्रोक्तो जीव आत्मेति च प्रभो।
> जीवा ब्रह्मादयः प्रोक्ता आत्मैकस्तु जनार्दनः॥

जीव और आत्मा (परमात्मा) दोनों ही चेतन पदार्थ हैं। ब्रह्मा आदि सभी जीव हैं; परन्तु एकमात्र जनार्दन ही आत्मा (परमात्मा) हैं। उनके अतिरिक्त 'आत्म' शब्दका प्रयोग सोपचार है अर्थात् चेतनके सादृश्य लक्षणसे ही है। 'आततत्वाच्च मातृत्वात आत्मा हि परमो हरिः' अर्थात् विस्तृतत्व हेतु और परिमातृत्व हेतु या सर्वप्रमत्वत्व हेतु हरि ही आत्म-शब्दवाच्य हैं—इत्यादि वचनोंके द्वारा जीव और ईश्वरका भेद सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्रीचैतन्य महाप्रभु भी इस विषयमें कहते हैं—

> संन्यासी—चित्कण जीव, किरणकण सम।
> षडैश्वर्यपूर्ण कृष्ण हय सूर्योपम॥
> जीव-ईश्वरतत्त्व कभु नहे सम।
> जलदग्निराशि यैछे स्फुलिंगेर कण॥
> येई मूढ़ कहे जीव—ईश्वरेर सम।
> सेई त पाषण्डी हय दण्डे तारे यम॥
>
> (चैतन्यचरितामृत म० १८।११२-११३,११५)

[मायावादी संन्यासी अपनेको ब्रह्म मान कर मुखसे 'नारायण', 'नारायण' का उच्चारण किया करते हैं। स्मार्त प्रथाके अनुसार गृहस्थ ब्राह्मण आदि सभी लोग उन संन्यासियोंको देखकर नारायण मान कर 'नारायण' नाम उच्चारणपूर्वक उनको प्रणाम करते हैं। इस भ्रम-प्रथाको दूर करनेके लिये श्रीचैतन्य महाप्रभुजी कह रहे हैं—संन्यासी भी जीव हैं, परमात्मा नहीं। वे चित्कण मात्र हैं, कृष्ण (नारायण) चित्सूर्य हैं। अतएव जीव—कृष्णरूप चितसूर्यकी किरणोंमें स्थित परमाणुकी भाँति है। भला वह षडैश्वर्यपूर्ण कृष्ण-सूर्यके समान कैसे हो सकता है? इसलिये संन्यासियोंको कभी भी नारायण मान कर प्रणाम करना उचित नहीं है।]

शंकरके मतसे "जीव और ब्रह्ममें भेद नहीं है, उपाधिके कारण परस्पर भेद कल्पित मात्र होता है। इस भेदका कारण उपाधि है। उक्त उपाधिसे ही परिच्छेद और प्रतिबिम्ब ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और उक्तज्ञानके द्वारा ही जीव और ब्रह्मका भेद कल्पित होता है। जब यह कल्पित ज्ञान या उपाधि तिरोहित हो जाती है, तब जीव-ईश्वरका भेद नहीं रहता, वे एक हो जाते हैं।" अब यह विचारणीय है कि उक्त भेदका मूलकारण उपाधि वास्तव है या अवास्तव। यदि उसे वास्तव (यथार्थ या सत्य) मानते हैं, तब तो ब्रह्म साक्षात्कारके बाद भी उसका नाश नहीं होगा। ऐसी दशामें ब्रह्म साक्षात्कारके बाद भी जीव और ईश्वर-विभाग विद्यमान रहेगा।

अर्थात् जीव और ईश्वरका भेद मिटा नहीं। दूसरी तरफ, यदि उक्त उपाधिको अवास्तव मानते हैं, तब उपाधिको अविद्यामूलक मानना पड़ेगा। परन्तु अखण्ड सत्यस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप ("सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म") ब्रह्ममें अविद्याका लेशमात्र स्पर्श भी संभव नहीं है। इसलिये अवास्तव या मिथ्या उपाधि-जन्य परिच्छेदवाद या प्रतिबिम्बवाद सत्य स्वरूप शुद्ध ब्रह्मके विषयमें कदापि संभव नहीं है। ऐसा होनेसे सत्य स्वरूप ब्रह्म ही मिथ्या हो पड़ेंगे। अथवा उपाधिके अविद्यामूलकत्व होने पर अर्थात 'रज्जुमें सर्पबुद्धि' की भाँति मिथ्या होने पर ब्रह्मका उपाधि द्वारा परिछिन्न और प्रतिबिम्बित होना भी मिथ्या हो पड़ेगा। दूसरी बात, 'तत्त्वमसि' इस श्रुतिमंत्रमें 'तत्' पदका तटस्थ लक्षण स्वीकार कर जीव और ब्रह्मकी एकता कल्पित की गयी है। परन्तु 'तत्' पदका अर्थ 'तस्य' (उसका) करनेसे 'तत्त्वमसि' का अर्थ है='तस्य त्वं असि=तुम (जीव) उनके (अंश) हो। वेद आदि सभी शास्त्रोंका मत यह है कि जीवका स्थूल-सूक्ष्म दोनों देहोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ही मुक्ति होती है, जो परमेश्वरके साक्षात्कारसे ही संभव है। इसलिये परमेश्वरके साक्षात्कारका सिद्धान्त स्वीकार करके भी ब्रह्मको निर्विशेष निराकार निर्धर्मक आदि बतलाना वादमात्र है। इस प्रकार यहाँ उपाधिकी वास्तवता और अवास्तवता—दोनों पक्षोंका दोष दिखलाया गया।

कोई-कोई ब्रह्मके परिच्छेदकी पुष्टिमें स्वप्नका दृष्टान्त दिया करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे स्वप्नमें नाना देहोंको देखा जाता है, किन्तु वह मिथ्या है। ऐसा होने पर दृष्टान्तके द्वारा सत्य वस्तुका परिच्छेद भी मिथ्या हो पड़ता है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें सर्वांशमें साम्य न रहने पर भी आंशिक सादृश्यका रहना तो आवश्यक है। परन्तु अद्वैतवादी जब इसे स्वीकार नहीं करते, तो उनके दृष्टान्त समूह असंगत ही हो पड़ते हैं।

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

श्रौत-वाणी

(१) श्रीमद्भागवत समस्त वेदोंका सार और एकमात्र अमल प्रमाण है।
(२) शुद्धतत्त्वविद् कृष्णैकशरण परदुःख-दुःखी महाभागवत ही जगत् त्राता श्रीगुरुदेव हैं।
(३) श्रीगुरुदेव कनककामिनीप्रतिष्ठा-लोलुप मंत्र-विक्रयी या धर्मव्यवसायी नहीं हैं।
(४) गुरुपाद पद्म नित्य हैं, गुरुके सेवक वैष्णवगण भी नित्य हैं।
(५) भक्तगण कृष्णके ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। भक्तपूजा को छोड़कर कृष्णकी पूजा करना दांभिकता है।
(६) हरि-कथाका प्रचार ही जीवके प्रति दयाका चरम आदर्श है।
(७) सदा-सर्वदा हरिभजन करना ही जीवका एकमात्र कर्त्तव्य है।

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

द्वितीयवृष्टि (पंचमधारा)

आह्निक

गृहस्थके मानसिक और शारीरिक कर्त्तव्य

ब्राह्म-मुहूर्त्तमें जग कर पारमार्थिक एवं लौकिक जिन-जिन कार्योंको दिन-रातमें करना है उन्हें चिन्ता-पूर्वक स्थिर कर लेना चाहिये। बिछौना छोड़नेके पश्चात उचित स्थानपर मल-मूत्र त्यागकर हाथ, मुख, नाक, आँख आदिको भली भाँति जलसे साफ करना चाहिये। स्वच्छ निर्मल जलमें स्नान करके साफ-सुथरे कपड़े पहनना चाहिये। तदनन्तर अपने वर्णके अनुसार धनोपार्जनके कार्यमें लगना चाहिये। शरीरकी अवस्थाके अनुसार दोपहरमें स्नान करके ईशोपासना और तर्पणादि करना चाहिये। रसोई बन जाने पर कुछ प्राणियोंके लिये और कुछ पतित और अपात्रोंके लिये रखकर अतिथिको बुलाकर उसे यत्नपूर्वक भोजन कराना चाहिए। अपने गाँवके लोग अतिथि नहीं कहे जा सकते। दूरसे आनेवाले सम्बन्धहीन, अकिंचन, भोजनाभिलाषी व्यक्तिको अतिथि करेंगे। अतिथिकी जाँति-पाँति जाँच नहीं करनी चाहिए। कोई निष्पाप ब्राह्मण उपस्थित होने पर उसे भोजन कराना चाहिए। तत्पश्चात् गर्भिणी, आश्रित, वृद्ध और बालक—इन सबको भोजन कराकर स्वयं भोजन करना चाहिए। पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके भोजन करना चाहिए। विशुद्ध पात्रमें परोसा हुआ पवित्र, साफ-सुथरा, पापी व्यक्तियों द्वारा जो स्पर्श न किया गया हो और सुपथ्य भोज्य पदार्थ भोजन करना चाहिए। असमय में भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन करनेके बाद भगवत् चिन्तन करना चाहिए। आलस्य छोड़कर अनतिक्लेशसाध्य कार्योंको करना चाहिए। दिनका शेष भाग सत् शास्त्रोंके पठन-पाठनमें लगाना चाहिए। सायंकालमें चित्तको एकाग्र कर सन्ध्या बन्दना करनी चाहिए। शामको भी दोपहरकी भाँति अतिथि आदि की सेवाके पश्चात् भोजन करना चाहिए। रातमें अतिथिको सोनेका स्थान और बिछौना देना चाहिए। गृहस्थको साफ-सुथरे और कीट-शून्य पलङ्ग पर पूर्व या दक्षिण दिशामें सिर करके शयन करना चाहिए। पश्चिम या उत्तरकी ओर सिर करके सोनेसे रोग पैदा होते हैं। अवैध स्त्रीसंगसे दूर रहना चाहिए। संक्षेपमें गृहस्थ व्यक्तिको शारीरिक और मानसिक विधियोंका पालन करते हुए निष्पाप अन्तःकरण द्वारा विशेष परिश्रमसे अर्थ उपार्जन करके अपने पाल्यगण, गुरुजन, अतिथि और निराश्रितोंका भरण-पोषण करते हुए अपनी शरीर-यात्रा निर्वाह करनी चाहिये।

आह्निक-तत्त्वमें जो सब विधियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे वर्तमान समयमें सम्पूर्णरूपसे चल नहीं

सकती हैं। आजकल भारतमें जिस प्रकार विदेशी राजनीति और विदेशी व्यवहारोंका बोलबाला है, उससे पहलेकी भाँति नियमोंका पालन करना कठिन है। वर्तमान समयमें सभी कार्य दोपहरमें ही होते हैं। इसलिए पहले आहार करके पीछे धनोपार्जनके कार्योंमें लगना ही उचित है। समयके अनुसार आज भारतकी स्वास्थ्यनीति भी बदल गयी है। इससे अधिक दिन चढ़े भोजन, त्रिसंध्या स्नान और रात्रि जागरण आदि कार्य किसी प्रकार को उचित नहीं हैं। महर्षियोंका मूल तात्पर्य यह है कि आहार व्यवहार, स्नान और शयन आदि शारीरिक कार्योंको इस प्रकारसे करना चाहिये कि शरीर निरोग रहे तथा लौकिक और पारमार्थिक कार्य निष्पाप और निर्विघ्न रूपमें सम्पन्न हो सके। इसलिये आश्रम-वासी अपनी-अपनी अवस्थाका विचार करके निवृत्तिपरा श्रद्धाके साथ दैनिक कार्य सम्पन्न करेंगे।(क)

विभिन्नप्रकारके दैनिककृत्य

शरीरनिष्ठ-विधि, मनोनिष्ठ-विधि, समाजनिष्ठ-विधि और परलोक-निष्ठ विधि—ये सभी आह्निक कार्यमें पालित होंगी। प्रातःकालमें उठना, हाथ-मुख आदि धोना, उपयुक्त परिश्रम, स्नान, उपयुक्त समयमें भोजन, बलकारक, स्वास्थ्यकर तथा पुष्टिकर पदार्थों का भोजन, स्वच्छ और पवित्र जल पान, भ्रमण, साफ-सुथरे वस्त्र धारण, तीन पहर (९ घण्टा) से अधिक न सोना—इन दैनिक विधियोंका अवश्य ही पालन करना चाहिये। दिनकी कार्य-चिन्ता, ध्यान-शिक्षा, विषय-विचार-शिक्षा, भूगोल, खगोल, इतिहास, ज्यामिति, गणित, साहित्य, पशुतत्त्व रसायनतत्त्व, चिकित्सातत्त्व, पदार्थ-तत्त्व और जीवतत्त्व आदि विषयोंको प्रयोजनके अनुसार आलोचनापूर्वक मनोनिष्ठ-विधिका पालन करना चाहिए। न्यायपूर्वक धनोपार्जन, यथाशक्ति संसार-पालन, आवश्यकतानुसार सामाजिक क्रिया साधन तथा जगदुन्नतिके कार्यमें यथासाध्य प्रयत्न आदि द्वारा दैनिक कार्योंको करना चाहिए। सन्ध्या-वन्दना आदि दैनिक पारलौकिक कार्योंको भी नियमितरूपमें करना चाहिए। अधिकांश कार्य दैनिक हैं; कुछ कार्य पाक्षिक हैं, कुछ मासिक और कुछ वार्षिक भी हैं। कुछ कार्य सामयिक हैं; जैसे विवाह, श्राद्ध आदि। सारे नित्यकर्म आह्निक या दैनिक हैं। नैमित्तिक कर्मोंके अन्तर्गत कुछ सम-सामयिक हैं और कुछ विषम-सामयिक हैं।

गृहस्थका जीवन सदा पवित्र, पुण्यमय और पाप-शून्य होना चाहिए। अबतक पुण्यमय जीवनकी व्यवस्था दिखलायी गयी। अब पापशून्यकी शिक्षा के लिये प्रधान-प्रधान पापोंका विचार दिया जा रहा है। (ख)

(क) प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम्। आवर्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्॥
हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम्। दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः॥(भागवत ७।३।४७-४८)

(ख) स्तेयं हिंसाऽनृतं दंभः कामः क्रोधः स्मयो मदः। भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्द्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्। तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
(भा० ११।२३।१८-१९)

प्रधान-प्रधान पाप ग्यारह प्रकारके हैं—

(१) हिंसा या द्वेष, (२) निष्ठुरता, (३) क्रूरता या कुटिलता, (४) चित्तविभ्रम, (५) झूठ, (६) गुर्ववज्ञा, (७) लाम्पट्य, (८) स्वार्थ सर्वस्वता, (९) अपवित्रता, (१०) अशिष्टाचार, और (१०) जगन्नाश-कार्य।

(१) नरहिंसा और पशुहिंसा

हिंसा तीन प्रकारकी होती है—नरहिंसा, पशुहिंसा और देवहिंसा। दूसरोंको नष्ट करनेकी इच्छाको 'हिंसा' कहते हैं। द्वेषसे हिंसा उत्पन्न होती है। किसी-किसी विषयोंके प्रति आसक्ति होनेको 'राग' कहते हैं। किसी विषयमें विरक्ति होनेको 'द्वेष' कहते हैं। उचित रागकी गणना पुण्यके अन्तर्गत की गयी है। अनुचित रागको 'लाम्पट्य' कहते हैं। द्वेष राग के विपरीत धर्म है। कुछ द्वेष उचित होते हैं; उनकी गणना पुण्यके अन्तर्गतकी गयी है। अनुचित द्वेष ही हिंसा और ईर्ष्याकी जड़ है। सबके साथ प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। परन्तु पापी व्यक्ति इसके विपरीत आचरण द्वारा सबके प्रति ईर्ष्या और हिंसाका व्यवहार करते हैं। हिंसा—एक बड़ा पाप कार्य है। सबके लिये हिंसाका परित्याग करना उचित है। नरहिंसा भयानक गुरुतर पाप है। जिस मनुष्यके प्रति हिंसा की जाती है, उस मनुष्य की महानताके तारतम्यसे हिंसाका लघुत्व या गुरुत्व का विचार होता है। ब्राह्मण-हिंसा, बन्धु बान्धवोंकी हिंसा, स्त्रीहिंसा, वैष्णव हिंसा, गुरु हिंसा—ये पाप समूह अधिक भयंकर होते हैं। पशु-हिंसा भी साधारण पाप नहीं है। उदर-परायण व्यक्ति अपने स्वार्थ और जिह्वा लाम्पट्यके लिये जो पशु-हिंसा करते हैं या करवाते हैं—वह केवल नीच मनुष्योंकी पशुवृत्तिका परिचयमात्र है। पशु-हिंसाको छोड़े बिना मनुष्य स्वभाव उज्ज्वल नहीं होता।

वेदादि शास्त्रोंमें कहीं-कहीं जो पशु-यज्ञ और बलिदान की व्यवस्था देखी जाती है, वह केवल उक्त पशु स्वभाव वाले मनुष्योंकी वृत्तिको क्रमशः संकोचित कर इसे निवृत्तिपरा बनानेके उद्देश्यसे है। (क) अतएव पशुहिंसा पशुका धर्म है, मनुष्यका धर्म नहीं।

देवहिंसा—देवहिंसा भी भयंकर पाप है। ईश्वर की आराधनाके लिये मनुष्यने भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी व्यवस्थाएँ निर्द्धारित की हैं। इन व्यवस्थाओंका पालन करनेसे परात्पर तत्त्वकी उपासना रूप परम धर्मकी प्राप्ति होती है। अनभिज्ञ और अतात्त्विक धर्मवादी व्यक्ति अपनी व्यवस्थाको अच्छा बतला कर दूसरे देशोंकी व्यवस्थाओंकी निन्दा करते हैं। इतना ही नहीं, वे दूसरे देशोंके धर्म मन्दिरों और ईश्वर-विग्रहों तकको तोड़-फोड़ देते हैं। परमेश्वर एक हैं—दो नहीं। इन अत्याचार पूर्ण कार्यके द्वारा एकमात्र परमेश्वरके प्रति हिंसाकी जाती है। मनुष्यमात्रको ऐसे अवैध एवं पशुवत कार्योंसे सदा-सर्वदा दूर रहना चाहिये। (ख)

(क) लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना। व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ सुराग्रहैरासुनिवृत्तिरिष्टा॥
यद्द्राण भक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा। एवं व्यवायः प्रजया न रत्यै इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥
(भा० ११।५।११-१३)

(ख) ये कैवल्यमसंप्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्। त्रैवर्गिकाह्यज्ञनिका आत्मानं घातयन्ति ते॥ (भा. ११।५।१६)

२—निष्ठुरता

निष्ठुरता दो प्रकारकी होती है—मनुष्यके प्रति निष्ठुरता और पशुओंके प्रति निष्ठुरता। नर-नारियों के प्रति निष्ठुरताका व्यवहार करनेसे संसारमें विषम उत्पात उपस्थित होता है। जगतसे दया उठ जाती है तथा निर्दयता रूप अधर्म सर्वत्र ही छा जाता है। सिराजुद्दौला और निरो आदि दुर्जनोंके द्वारा न जाने संसारमें कितना भयंकर उत्पात हुआ था। यदि किसीके हृदयमें किसी प्रकारकी निष्ठुरता हो तो दयालु पुरुषोंकी दयालुताकी कथाएँ पढ़कर तथा तथा दयाकी शिक्षा ग्रहण कर उसे क्रमशः दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। आधुनिक क्षुद्र-क्षुद्र धर्मों में पशुओंके प्रति निष्ठुरताका विधान देखा जाता है। यह उनके व्यवस्थापकों के कुयश की घोषणा करता है। साधारण विषय लोलुप लोग गाड़ीके बैलों और घोड़ोंको अत्यन्त कष्ट देते हैं। उसे देख कर सहृदय व्यक्तियोंका हृदय विदीर्ण हो जाता है। समस्त प्रकारके पशुओंके प्रति निष्ठुरताका व्यवहार परित्याग करना कर्त्तव्य है।

३—क्रूरता

क्रूरता या कुटिलता एक पाप है। जब एक व्यक्ति स्वार्थके वशीभूत होकर या अभ्यासवशतः किसी दूसरे व्यक्तिके प्रति जो असरल व्यवहार करता है उसे 'कुटिलता' कहते हैं। वही कुटिलता अधिक उद्वेगदायक होनेपर क्रूरता कहलाती है। जो ऐसे पाप कार्यमें आसक्त होते हैं, उनको 'खल' कहते हैं।

४—चित्तविभ्रम (पागलपन या उन्माद)

चित्तविभ्रम † चार प्रकारसे होता है। (१) मादक द्रव्य सेवनसे, (२) षड्रिपुओंकी प्रबलतासे, (३) नास्तिकतासे और (४) जड़तासे।

मादक द्रव्योंका सेवन—नशीली वस्तुओंका सेवन करनेसे जगतका बहुत ही अहित होता है। इससे बहुत प्रकारकी बुराइयाँ फैलती हैं। समस्त प्रकारके पापोंका आश्रय—नशीली वस्तुएँ हैं। सब प्रकारके शराब, ताड़ी, गाँजा, भाँग, अफीम, चरस, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, चाय, ये सब मादक द्रव्य हैं। कोई-कोई मादक द्रव्य चित्तको उग्र करते हैं तथा स्वास्थ्यको नष्ट करते हैं। अफीमके सेवनसे मनुष्यका चित्त पशुओंके समान बन जाता है। तम्बाकूसे जड़ता उपस्थित होती है। मादक-द्रव्यका सेवन करना भयंकर पाप है। चिकित्सकोंके आदेश या निर्देशके अतिरिक्त मादक द्रव्योंका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये।

षड्रिपुओंकी प्रबलता—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य—ये छः रिपु कहलाते हैं। ये मन को वशीभूत करके मनुष्यको पापी बना देते हैं। स्वच्छन्दतापूर्वक निष्पाप रूपसे शरीर यात्रा निर्वाहोपयोगी अर्थ और द्रव्यकी अभिलाषा करनेको काम नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरी कामनाओंको 'काम' कहा जाता है। ये कामनाएँ ही हमारे सब प्रकारके दुःखोंका कारण है। कामना पूर्ण न होने पर वह क्रोधको अपनी सहायताके लिये

(†) अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ। द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः। ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरञ्च पञ्चमम् (भा. १।१७।३८-३९)

बुला लेती है । क्रोध उत्पन्न होने पर कलह, कटु-वचन, मारपीट, युद्ध और आत्महत्या—सब कुछ संभव हो जाता है। क्रमशः लोभ उत्पन्न होकर पाप कार्यमें प्रवृत्त करा देता है। अपनेको बड़ा समझनेका नाम 'मद' है । कोई मनुष्य अपनेको जितना ही क्षुद्र समझेगा उसमें उतना ही अधिक नम्रता रूप धर्म उदित होता है। मद त्याग करना चाहिये। परन्तु मद त्याग करनेका तात्पर्य यथार्थका परित्याग करना नहीं है । जिसके पास जो अच्छी चीजें हैं, उनके ऊपर निर्भर करना उचित है । विशेषतः 'मैं भगवानका दास हूँ—इस यथार्थ अभिमानका कदापि त्याग नहीं करना चाहिये । इससे मद नहीं होता; बल्कि औपाधिक मदका विनाश होता है। दूसरोंकी उन्नति देख कर जलनेका नाम 'मात्सर्य' है । यह सारे पापोंकी जड़ है। इन षड्रिपुओंमेंसे जिस किसी एक, दो या अधिक रिपुओंसे आक्रान्त होने पर चित्त विभ्रान्त होता है ।

नास्तिकता—उन्मादसे नास्तिकता पैदा होती है। नास्तिकता दो प्रकारकी होती है—(१) ईश्वर नहीं है—ऐसा निश्चिय करना और (२) ईश्वर हैं या नहीं—ऐसा संदेह करना। नास्तिकता—एक प्रकारका उन्माद ही है—इसे पुनः पुनः परीक्षा करने पर ठीक पाया गया है। उन्माद (वायुरोग आदिवाले) ग्रस्त लोग अधिकतर नास्तिक या संदेहवादी होते हैं। ऐसा देखा गया है कि पागल या उन्माद रोग होनेके पहले कोई व्यक्ति ईश्वर विश्वासी था; परन्तु घटना-वशतः पागल होने पर या उन्माद ग्रस्त होनेपर वह ईश्वर विश्वासी न रहा। पुनः रोग दूर होने पर फिर ईश्वर - विश्वासी हो गया। कोई-कोई पागल व्यक्ति दिन-रात 'हरे कृष्ण' इत्यादि नामका उच्च-स्वरसे कीर्तन करते हैं । परन्तु उनसे पूछने पर वे अपने ही को 'कृष्ण' आदि बतलाते हैं । यह सब चित्त-विभ्रम है।

जड़ता—आलस्यको ही जड़ता कहते हैं । इसे पाप माना गया है। जड़ताशून्य होना पुण्यात्माओं का एक प्रधान कर्तव्य है।

५—मिथ्या (झूठ)

मिथ्या-व्यवहार चार प्रकारके हैं—(१) झूठ बोलना, (२) धर्म-कापट्य, (३) मिथ्याआचरण (वंचना) और (४) पक्षपात ।

झूठ-बोलना—कभी भी झूठ नहीं बोलना चाहिये। झूठ बोलना पाप है । शपथ खा कर झूठ बोलना और भी अधिक पाप कार्य है। जो लोग झूठ बोलते हैं, उनका कोई भी विश्वास नहीं करता । अन्तमें सभी उनसे घृणा करने लगते हैं।

धर्म-कापट्य—यह एक भयानक पाप है। ऐसे पापमें लिप्त व्यक्तियोंको 'बगुला-भगत' कहते हैं। जो तिलक, माला, कौपीन, बहिर्वास और यज्ञोपवीत आदि धर्मके बाहरी चिह्नोंको तो धारण करते हैं, परन्तु ईश्वर भक्ति जिनमें नहीं होती, वे धर्म-ध्वजी हैं—कपट साधु है।

वंचना—जो लोग लोक व्यवहारमें मनकी बात प्रकाश नहीं करके कुछ और प्रकाश करते हैं अर्थात् मनमें कुछ रखते हैं, बाहर कुछ और कहते हैं, वे शठ और वंचक हैं, उनसे सभी घृणा करते हैं।

पक्षपात—यथार्थ पक्षमें न रह कर किसी भी कारणसे अन्याय पक्षको समर्थन करनेको

पक्षपात कहते हैं। यह सर्वतोभावेन वर्जनीय है।

६—गुर्ववज्ञा

गुर्ववज्ञा तीन प्रकारकी है—(१) माता-पिताकी अवहेला, (२) उपदेशकोंकी अवहेला और (३) दूसरे गुरुजनोंकी अवहेला। यदि गुरुजन भ्रमसे कभी अन्याय रूपसे डाँटें-डपटें या मारें, तथापि उनकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। कौशल और विनम्रताके साथ उनको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करना चाहिए। गुरुजनोंकी अन्याय आज्ञाका पालन नहीं करनेसे गुर्ववज्ञाका दोष लगता है।

७—लाम्पट्य

लम्पटता तीन प्रकारकी होती है—(१) अर्थ-लाम्पट्य, (२) स्त्री-लाम्पट्य और (३) प्रतिष्ठा-लाम्पट्य। धन और विषयोंके प्रति लाम्पट्यको अर्थ लाम्पट्य कहते हैं। अर्थ-लाम्पट्य बढ़ते-बढ़ते धन और विषय भोगोंकी आशा इतनी प्रबल हो उठती है कि उस व्यक्तिकी सुख-शान्ति सदाके लिये भाग खड़ी होती है। इसलिये यत्नपूर्वक इससे बचना चाहिये। आवश्यकतानुसार अर्थात् जिससे संक्षेपमें जीवनयात्राका निर्वाह होता रहे—ऐसे अर्थ और विषयोंके अतिरिक्त हृदयमें अधिककी आशा नहीं रखनी चाहिए।

स्त्री-लाम्पट्य एक बड़ा पाप है। परस्त्री और वेश्याका संग कभी नहीं करना चाहिए। विवाहित स्त्रीके साथ सहवास करनेके लिये भी कुछ शारीरिक और सामाजिक विधियों पर ख्याल रखना आवश्यक है। कभी भी स्त्रैण नहीं होना चाहिए। स्त्रैण होनेसे सर्वनाश होता है। (क) अन्यायरूपसे स्त्री-संग करनेसे शरीर दुर्बल हो पड़ता है, बुद्धिका ह्रास होता है, तथा दुर्बल और अल्पायु संतान पैदा होते हैं। भारतवासियों के लिये पुरुषकी आयु २१ वर्ष तथा स्त्रीकी आयु १६ वर्ष होनेके पहले स्त्रीसंग करना अनुचित जान पड़ता है। पर्व या व्रत के दिन, स्त्री गर्भवती होने पर और ऋतुकाल समाप्त न होने तक स्त्रीसंग निषिद्ध है। धर्म-प्रवृत्तिद्वारा स्त्री-लाम्पट्यको हृदयसे दूर करना चाहिये। प्रतिष्ठा-लोलुप व्यक्तिके सब कार्य नितान्त स्वार्थपर होते हैं। अतएव इनसे दूर रह कर निःस्वार्थभावसे धर्माचरण करना चाहिये।

८—स्वार्थ-सर्वस्वता

स्वार्थपरता पाप है। मनुष्य जीवनकी उन्नति और यथार्थ पारलौकिक कल्याणकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे भी स्वार्थ ही कहते हैं। परन्तु इस स्वार्थको त्याग करने की कहीं भी कोई विधि नहीं है। ऐसे स्वार्थसे अपना और जगत—सबका कल्याण होता है। ऐसे स्वार्थका परित्याग करनेसे जगतका अहित होता है। जो स्वार्थ निंदनीय है, जिससे दूसरोंका अहित होता है, ऐसे कुस्वार्थका त्याग करना चाहिये। ऐसे स्वार्थसे अपने आश्रित रहनेवाले बच्चों और परिवारको कष्ट होता है, व्यर्थकी कृपणता होती है, सत्कर्ममें बाधा पहुँचती है; झगड़ा, चोरी, असन्तोष, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा, लाम्पट्य आदि अनेकों प्रकारके पाप पैदा होते हैं। जिस व्यक्तिमें जितनी ही अधिक स्वार्थ-

(क) सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्हीः श्रीर्यशः क्षमा। शमो दमो भगश्चेति यत्संगाद् याति संक्षयम्॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु। संगं न कुर्याच्छोचेषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥ (भा. ३।३१।३३-३४)

परता होती है, वह उतने ही अधिक परिमाणमें अपना और दूसरोंका अमङ्गलजनक होता है। इस लिये स्वार्थपरताको दूर किये बिना किसी सत्कर्म में प्रवृत्त नहीं हुआ जा सकता है। (क)

९—अपवित्रता

शारीरिक और मानसिक भेदसे अपवित्रता दो प्रकारकी होती है। पुनः ये दोनों देश, काल और पात्रभेदसे तीन-तीन प्रकारकी होती हैं। अपवित्र देशमें गमन करनेपर देशगत अपवित्रता होती है। उन देशवासियोंके अशुद्धाचरणसे वह देश अपवित्र रहता है। इसीलिये धर्मशास्त्रोंमें ऐसा विचार देखा जाता है कि बिना किसी विशेष कारणके म्लेच्छ देशमें गमन करने पर देशगत अपवित्रता स्पर्श करती है। देशका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, उस देश का कल्याणके लिये, दुष्ट लोगोंके हाथोंसे उस देशका उद्धार करनेके लिये, युद्ध आदिके लिये या धर्म-प्रचार आदिके लिये म्लेच्छ देशमें जाना निषिद्ध नहीं है। म्लेच्छ देशकी विद्या या व्यवहारकी शिक्षा ग्रहण करनेके लिये, धर्म-शिक्षा करनेके लिये या उस देशके लोगोंके साथ रहनेके लिये म्लेच्छ देशमें गमन करने से आर्य जातिकी अवनति होती है। यह दोष स्पर्श करने पर प्रायश्चित करना चाहिये। मलमासका समय कर्मकाण्डकी दृष्टिसे अपवित्र माना गया है। इसका कारण यह है कि काल और कर्मको विभक्त करके निर्द्धारित समयमें ही निर्द्धारित कर्म करनेकी व्यवस्था है। विभक्तकालके अतिरिक्त बचे हुए काल-को तथा बड़ी-बड़ी घटनाओं अर्थात् ग्रहण आदिके कालको नियमित कार्यके लिये अकाल माना गया है। उन कालोंमें किये गये कार्योंमें अपवित्रता लक्षित होती है। असमयमें स्त्री-गमन, असमयमें भोजन और असमयमें निद्रा आदि व्यवहारिक कार्योंमें अपवित्रता लक्षित होती है। मद्यप और लम्पट लोगोंके हाथमें रसोई कार्य तथा देवपूजा-कार्य देनेसे पात्रगत अपवित्रता होती है। शरीर, वस्त्र, शय्या और गृहको गन्दा रखनेसे अपवित्रता होती है। मल-मूत्र त्यागनेके पश्चात् जलसे शारीरिक अपवित्रता दूर लेनी चाहिये। भ्रम और मात्सर्यके द्वारा चित्त अपवित्र हो जाता है। इन्हें भी दूर रखना चाहिये।

१०—अशिष्टाचार

अशिष्टाचार एक प्रकारका पाप है। जो लोग सदाचारी एवं सत्पुरुषों द्वारा निर्द्धारित आचारोंको छोड़ कर म्लेच्छोंके आचार-व्यवहारोंका पालन करते हैं, वे अशिष्टाचारी हैं। जो लोग म्लेच्छोंका संग करके पवित्र वर्णाश्रम धर्मको छोड़कर म्लेच्छोंकी भाँति स्वेच्छाचारी हो पड़ते हैं, वे भी प्रायश्चित्तके योग्य हैं, क्योंकि वर्णाश्रम-धर्मके आचार विज्ञान सिद्ध सदाचार हैं। इसके विरुद्धाचरणसे वे लोग पतित हो जाते हैं।

११—जगन्नाश-कार्य

जगन्नाश-कार्य पाँच प्रकारके हैं—(१) सत्कार्यमें बाधा देना, (२) फल्गु वैराग्य, (३) धर्मके नाम पर असदाचार फैलाना, (४) अन्याय युद्ध और (५) अपव्यय (व्यर्थका खर्च)। कोई व्यक्ति मन कर्ममें

(क) प्रायेन देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥ (भा. ७।९।४४)

प्रवृत्त होनेपर स्वयं या दूसरोंके द्वारा उस कार्यमें बाधा पहुँचाने का यत्न करनेसे जगन्नाश-कार्य करना होता है । भगवद्भक्तिकेद्वारा अथवा ज्ञानोदयसे विषयोंके प्रति वैराग्य उदित होता है, वह उत्तम है; परन्तु चेष्टा द्वारा वैराग्य पैदा करनेसे नाना प्रकारसे अहित होता है। संसारमें रह कर गृहस्थ धर्मका उत्तम रूपसे पालन करना ही साधारण लोगोंका कर्त्तव्य है । सच्चा वैराग्य उदित होने पर संन्यास आश्रमोपयोगी वैराग्य का आचरण करना उचित है अथवा भगवत्सेवामें तत्पर होकर गृहस्थोपयोगी चेष्टाओंको क्रमशः कम करेंगे । इसका नाम सच्चा वैराग्य है ।

कुछ लोग गृहमें कलह या अभाव आदि किसी प्रकारका कष्ट होने पर अथवा किसी विपत्ति आदि से घबड़ा कर गृहस्थ धर्म त्याग कर वैरागी या साधु बन जाते हैं । ऐसा करना पाप है । क्षणिक वैराग्य होनेसे आश्रम त्याग करनेका अधिकार नहीं होता । कुछ लोग स्वाभाविक वैराग्य उदित न होने पर भी सिर मूड़ाकर गलेमें कंठी और मस्तक पर तिलक आदि वैराग्यके बाह्य चिह्नोंको धारण कर निकल पड़ते हैं और सोचते हैं कि ऐसा करके शीघ्र ही भगवद्भक्ति प्राप्त कर लूँगा । परन्तु यह उनका भ्रम है; क्योंकि उनका अस्वाभाविक एवं क्षणिक वैराग्य कुछ ही दिनोंमें उतर जाता है और वे पुनः दुराचार और विषय भोगोंमें अधिकाधिक फँस जाते हैं । प्रत्येक अधिकारके लिये अलग-अलग आचार निर्द्धारित किये गये हैं । जो व्यक्ति जिस अधिकार में है, उस अधिकारके लिये निर्दिष्ट आचार ही उसके लिये सदाचार है । (क) अधिकारका विचार न करके अनधिकार-गत आचारका पालन करनेसे जगतका और अपना दोनोंका ही अहित होता है । कोई-कोई भूलसे और कोई-कोई धूर्त्तताबश उच्च अधिकारके योग्य न होने पर भी उस उच्च अधिकारके आचारों का पालन करने लगते हैं । इससे भी क्रमशः जगत का विनाश होता है । कहीं-कहीं धर्मके नाम पर असदाचारका ही प्रचार देखा जाता है । भक्त संन्यासियोंका वर्णाश्रम-धर्मके विरुद्ध प्रचार तथा नेड़ा, बाउल, कर्त्ताभजा, दरवेश, कुंभपटिया, अतिवादी, स्वेच्छाचारी भक्त ब्रह्मवादियोंकी वर्णाश्रम-विरुद्ध चेष्टाएँ अत्यन्त अहितकर हैं । इसके द्वारा वे लोग जो पाप प्रचलित करते हैं, वह जगन्नाशका ही कारण होता है । सहजिया, नेड़ा, बाउल, कर्त्ताभजा आदिका अवैध स्त्रीसंग नितान्त धर्म-विरुद्ध है । राज्य विस्तारके लिये जो अन्याय-युद्ध होते हैं वे सब अधर्म हैं तथा जगत-विनाशके कार्य हैं । अत्यन्त न्याय-युद्धके सिवा धर्मशास्त्रोंमें कहीं भी युद्धका विधान नहीं देखा जाता । अर्थ, शक्ति, समय और सामग्रियोंका न्यायपूर्वक व्यय करनेकी ही विधि है । उनको अन्यायरूपमें व्यय करनेसे अपव्यय रूप पाप स्पर्श करता है । (क्रमशः)

(क) स्वे-स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः । विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः ॥

(भा. ११।२१।२)